अन्तर्राष्ट्रीय वेदान्त मिशन की मासिक ई - पत्रिका
वेदान्त पीयूष
वर्ष २२
मार्च - २०२२
प्रकाशन - 03

सम्पादिका :

स्वामिनी अमितानन्द सरस्वती

वेदान्त पीयूष

मार्च २०२२

प्रकाशक

आन्तराष्ट्रिय वेदान्त आश्रम,

ई - २९४८, सुदामा नगर

इन्दौर - ४५२००९

Web : https://www.vmission.org.in

email : vmission@gmail.com

ॐ

सदाशिवसमारम्भाम्

शंकराचार्य मध्यमाम्

अस्मदाचार्य पर्यन्ताम्

वन्दे गुरु परम्पराम्

वेदान्त पीयूष

विषय सूचि

मार्च 2022

उपादानेऽखिलाधारे

जगन्ति परमेश्वरे।

सर्गस्थितिलयान्यान्ति

बुद्बुदानीव वारिणि॥

(आत्मबोध श्लोक : 4)

सब के उपादान कारण और आधार रूप परमेश्वर में ही यह जगत् उत्पत्ति, स्थिति और लय को उसी प्रकार प्राप्त होता है कि जैसे जल में बुलबुलें आदि नाम-रूप की उत्पत्ति आदि

होती है।

पूज्य गुरुजी का सन्देश

ब्रह्मज्ञान का स्वरूप

ब्रह्मज्ञान से ही संसार के बन्धनों से मुक्ति होती है। किन्तु ब्रह्मज्ञान बौद्धिक ज्ञान मात्र नहीं होते हुए अपनी ब्रह्मस्वरूपता में जाग्रति है। यह ऐसी जाग्रति है कि जहां हमारी जीवत्व की अस्मिता स्थानान्तरित होकर ब्रह्म की अस्मिता से युक्त होते हैं। अर्थात् जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं करता है, किन्तु जीवभाव बाधित होकर ब्रह्मस्वरूपता में स्थिति होती है। जहां हम पूर्णकाम, जगद् अधिष्ठान, सर्वात्मा होकर जीते हैं। भगवान के अवतार व लीला से भी यही रहस्य दृष्ट होता है कि, संकुचित उपाधि में स्थित रहकर भी ब्रह्म होकर पूर्णता की अस्मिता से युक्त

ब्रह्मज्ञान का स्वरूप

कैसे जी सकते है! अपनी ब्रह्मस्वरूपता की अवेरनेस होने पर कोई भी रोल स्वेच्छा से धारण करके प्रेम से निष्कामता, निरपेक्षता से उसे जी सकते हैं।

'ब्रह्मज्ञान जीवभाव का निषेध होने पर ब्रह्मस्वरूपता में जाग्रति होना है।'

हमें ज्ञात हो या न हो मूलरूप से आज भी ब्रह्म ही है, अर्थात् अपरिच्छिन्न ब्रह्म को परिच्छिन्न की तरह प्रस्तुत होने में कोई भी बाधा नहीं है। किन्तु हम एक संकुचित व्यक्ति हैं, यह सोच ही बाधा है। आज जीवभाव में दृढ़ता की वजह से वेदान्त का श्रवण करने के बावजूद व्यक्ति होकर ही जीते हैं।

हमारे जीवन की दिशा बुद्धिरूप सारथि के

ब्रह्मज्ञान का स्वरूप

द्वारा निर्धारित होती है, वही लक्ष्य देती है। अत: बौद्धिकज्ञान की स्पष्टता भी महत्वपूर्ण है; किन्तु यह पर्याप्त नहीं। प्रत्येक परिस्थिति में अपनी ब्रह्मस्वरूपता की अवेरनेस सतत बनी रहे तथा इस अवेरनेस के साथ अपने रोल को पूर्णकाम होकर जीएं। संज्ञान व्यवहार से निरपेक्ष होता है। यद्यपि व्यवहार संकुचित व्यक्ति ही करता सा प्रतीत होता है; किन्तु अपने अन्दर यह संज्ञान बना हुआ है कि हम उन संकुचिता से मुक्त, जन्मादिरहित ब्रह्म है। हम में ब्रह्माण्डरूप असंख्य लहरें उठ् रही हैं। सब हम जीवनतत्व की ही अभिव्यक्ति हैं।

'मुक्ति हेतु वेदान्त का बौद्धिकज्ञान आवश्यक है, किन्तु उतने मात्र से मुक्ति नहीं होती।'

ब्रह्मज्ञान का स्वरूप

हम ब्रह्म, पूर्णकाम, सर्वात्मा होने से कुछ भी बनने की आकांक्षा नहीं। न हमारा भूत है और न भविष्य है। वर्तमान में ही पूर्ण उपलब्धता से जीते हैं। जब हमारी जड़ें भूत में हैं, तो कार्य-कारण की संकुचिता से युक्त हो जाते हैं। किन्तु न हम कार्य हैं, न कारण। वस्तुतः एक ही हम अनेकों रूप में अभिव्यक्त से प्रतीत होते हैं।

इस विज्ञान के लिए पहले बौद्धिक ज्ञान होना चाहिए। तथा इस बौद्धिक ज्ञान के आशीर्वाद के लिए व्यवहार में भी आमूल परिवर्तन होना चाहिए। वेदान्तविचार में प्रति पल रमते हुए, व्यवहार में सतत संज्ञान बनाए रखना ही ज्ञान में निष्ठा की साधना है। उसके लिए संसार के आधारभूत जीवत्व से युक्त होकर जीवन को नकारना होगा।

ब्रह्मज्ञान का स्वरूप

क्षुद्रता से युक्त जीवत्व की अस्मिता से मुक्त होकर एक विलक्षण संज्ञान का समावेश

'जीव के बन्धन का हेतु उपहित चेतना की संकुचिता से तादात्म्य है।'

करने के लिए भगवान ने गीता में कर्मयोग की साधना बताई। जहां हर परिस्थिति को ईश्वर का प्रसाद देखें तथा प्रत्येक कर्म को ईश्वर के चरणों में नैवेद्य के रूप में समर्पित करें। इस प्रकार पूर्णकाम ईश्वर की अवेरनेस बनाने का अभ्याससतत किया जाना चाहिए। यद्यपि यह मोक्ष का पर्याय नहीं है, किन्तु छोटेपन से युक्त, संसारीदृष्टि से विलक्षण दृष्टि को जीने की साधना है। क्षुद्र जीवत्व की अस्मिता से ब्रह्मस्वरूपता में जाग्रति नहीं होती है। अत: कर्मयोग का समावेश क्षुद्रता की धारणा को शिथिल करने

ब्रह्मज्ञान का स्वरूप

का हेतु बनता है। उसके लिए व्यवहार को ही साधनास्थली बनाना होगा। व्यवहार में पूर्ण होकर जीना ही हमारे लिए चुनौति होती है। यह शनैः शनैः अनासक्त करते हुए संन्यस्तता की ओर ले जाता है। ऐसे साधक की ही श्रवणादि साधना फलित होकर ज्ञान में निष्ठा अर्थात् ब्रह्म में प्रवेश का हेतु बनती है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान को बौद्धिक धरातल से हृदयान्वित करने की यात्रा होती है।

वेदान्त लेख
अहम् ब्रह्मास्मि

मृत्यु का रहस्य

मृत्यु जीवन का यथार्थ है, उस पर विचार मुक्तिदायक कल्याणकारी है। उससे अनेकों शिक्षा ग्रहण होती है व अध्यात्मयात्रा का पथ प्रशस्त होता है। आज हमारी दृष्टि में जीव सत्य, महत्वपूर्ण है। उसमें छोटापन, नश्वरता सम्भावित मृत्यु स्वाभाविक रूप से है। मृत्यु का शब्दार्थ देखें तो एक ऐसी अनुभूति है कि जहां बाह्य विषयादि, वासना, कामना अस्मिता, सम्बन्धादि समस्त अनुभूत दुनिया पूर्णत: अनुपलब्ध हो जाती है। जिसकी मृत्यु हो जाती है, वह अन्य के लिए स्मृतिमात्र का विषय रहता है। मृत्यु का यथार्थ विचार वर्तमान जीवन में आमूल परिवर्तन लाता है।

मृत्यु का रहस्य

सभी का एक समय यहां अन्त होना ही है; इस तथ्य को स्मरण बनाए रखने पर जो भी उपलब्ध है, उसके साथ अनासक्तिपूर्ण स्वस्थ सम्बन्ध होने लगते है। सुख-सुरक्षादि के लिए अन्य पर निर्भर नहीं रहेंगे।

'मृत्यु जीवन का यथार्थ है। उस पर विचार करना अत्यन्त कल्याणकारी व मुक्तिदायक है।'

अन्य की मृत्यु से देखते है कि उसके नहीं होने से भी दुनिया की व्यवस्था, संचालनादि यथावत् चलता है। इससे यह दीखता है कि हम या कोई सीमित जीव न यह जगत चला रहा है और न उसके सिर पर बोजा है। किन्तु एक अकल्पनीय संचालक ईश्वर है, जो सब चला रहे है। उनसे ही सब प्राप्त हो रहा है। यह देखते हुए ईश्वर के प्रति विश्वास की दृढ़ता होने लगती है। और चिन्तादि से मुक्त होते जाते है। जो कुछ भी प्राप्त हो रहा है, उसमें धन्यता व आशीर्वाद

मृत्यु का रहस्य

देखते है। असंग होकर प्रेम व धन्यता से, जीवन्तता से जीने की प्रेरणा होने लगती है। इस व्यवस्था को देखकर अपने कर्तृत्व का अभिमान शिथिल होने लगता है।

साधारणत: जीव की चेष्टाएं इस क्षुद्र अस्मिता से युक्त अभिव्यक्ति की अल्पता, छोटेपन की समाप्ति के लिए ही होती है। किन्तु जब यह ज्ञात होता है कि हमारी भी अस्मिता भी शून्य होने वाली है, तो किसी अभिमान या कामना की कोई गुंजाईश ही नहीं है। तथा नश्वर, क्षुद्र जीव के लिए नश्वर दुनिया से अपेक्षा करना मोह दीखाई देता है।

मृत्यु में यह सब छूटनेवाला है; यह जानते हुए जो भी छूटनेवाला उसे पहले छोडें अर्थात् उससे राग-द्वेष, आसक्ति आदि का त्याग करें। क्योंकि यह सब समाप्त ही होने वाला है तो उस क्षणिक, काल्पनिक अस्मिता के लिए इन विषयों से क्यों आसक्त हो।! मृत्यु रूप यथार्थ

मृत्यु का रहस्य

के स्मरण से इस क्षुद्र, असुरक्षित, भयभीत अस्मिता को जीवन का आधार नहीं बनाते है और सब से एक विलक्षण सम्बन्ध स्थापित होता है कि जहां न छोडते है, न पकडते है।

'मृत्यु के स्मरण मात्र से कर्तृत्व, भोक्तृत्व रूप अस्मिता से मुक्ति होने लगती है।'

मृत्यु से शिक्षा लेनेमात्र से जीव की कर्तृत्व -भोक्तृत्व रूप अस्मिता से मुक्ति होती जाती है। उससे तादात्म्य शिथिल होने लगता है। इस प्रकार इस काल्पनिक अस्मिता से मुक्त होते है। यद्यपि मृत्यु के साथ हमारा अस्तित्व पूर्णत: समाप्त नही हो जाता है, इसकी शास्त्रादि प्रमाण से भी पुष्टि होती है कि कर्मानुसार लोकान्तर व देहान्तर की प्राप्ति होती है। लोकान्तर व देहान्तर विषयक ज्ञान से कर्म सुन्दरता से, प्रेम व स्वकेन्द्रिता से मुक्त होकर जीवन में धर्माचरण का समावेश होता जाता है। हमारा अस्तित्व समाप्त नहीं

मृत्यु का रहस्य

होता है अर्थात् मृत्यु नहीं होती है। किन्तु वह जो वस्तुत: हम है, वह अस्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। अत: अपनी मृत्यु का अनुभव तब होता है कि जब अपनीं काल्पनिक अस्मिता से तादात्म्य की समाप्ति होती है। यही वास्तविक व इष्ट मृत्यु है।

जीव की मृत्यु के उपरान्त एक भिन्न अध्याय जहां ऐसे मैं की पहचान व जाग्रति है कि जहां जीव के समस्त संकुचिता आदि धर्म व उनके विकारादि से मुक्त हो जाते है। तब अपने ऐसे यथार्थ को देखने में समर्थ होते है-जो स्वप्रकाश, स्वत:सिद्ध है। यही वास्तविकता का ज्ञान है। अभिव्यक्त चेतना से तादात्म्य से मुक्त होना रूप मृत्यु होने पर हम मृत्यु से परे अपने सत्य में जग जाते हैं। इस प्रकार मृत्यु का विचार मुक्तिदायक तथा अत्यन्त कल्याणकारी है।
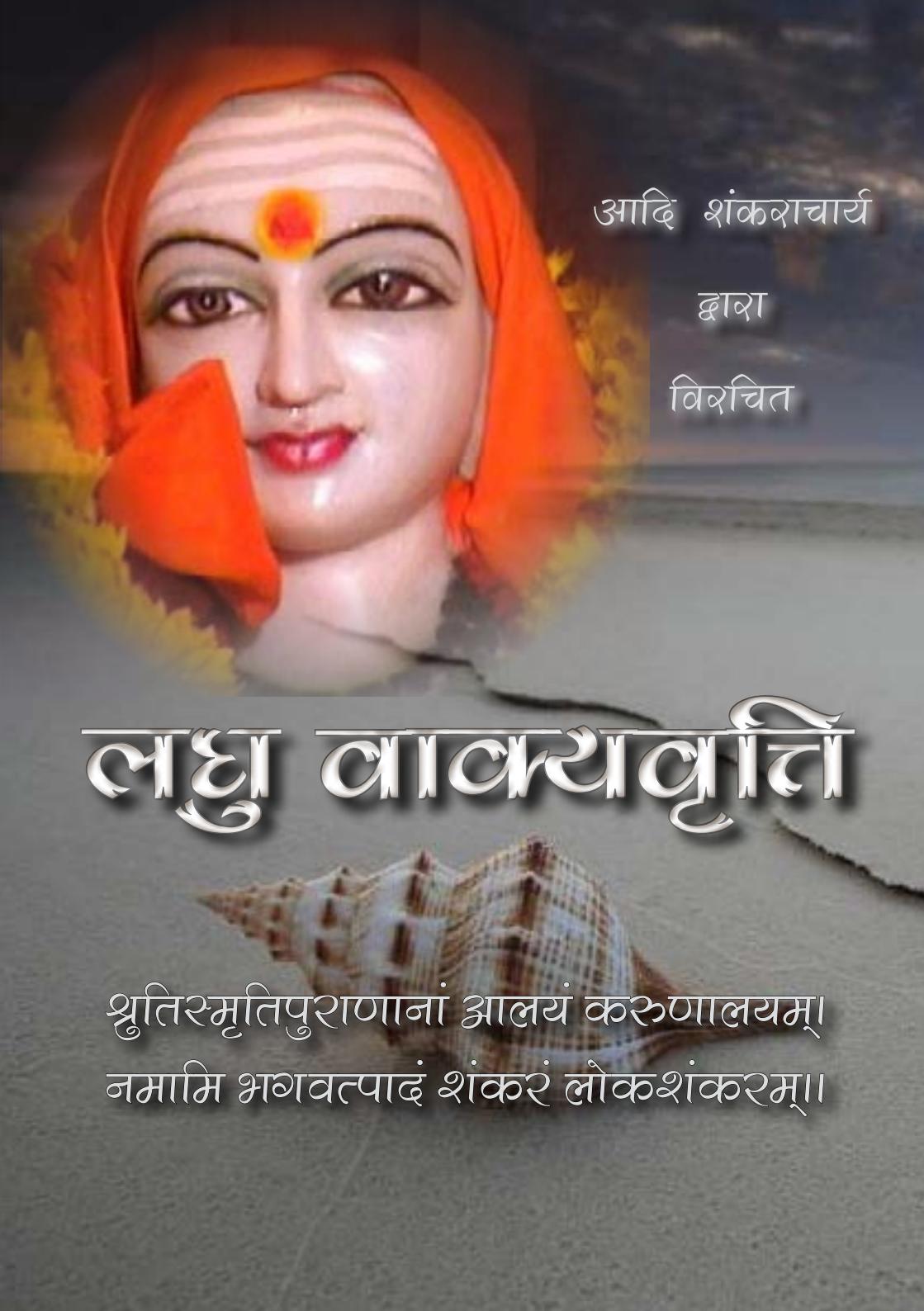
लघु वाक्यवृत्ति

श्रुतिस्मृतिपुराणानां आलयं करुणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्।।

स एव संसरेत्कर्म
वशाल्लोकद्वये सदा।
बोधाभासाच्छुद्धबोधं
विविच्यादतियत्नतः॥

वह ही जीव अपने कर्मवशात् इह और परलोक में संसरण को प्राप्त होता है। अतः विवेक-बुद्धि से इस चिदाभास तथा चेतनता को प्रयत्नपूर्वक पृथक् देखना चाहिए।

लघु वाक्यवृत्ति

पूर्व दो श्लोक में आचार्यश्री ने स्थूल और सूक्ष्म शरीर तथा उसके कारणभूत अज्ञान क तथा साक्षी का परिचय दिया।

'जीव के संसरण का कारण अपने स्वरूप का अज्ञान है।'

इन प्राप्त शरीरों में सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत बुद्धि एक ऐसी उपाधि है, कि जिसमें चेतना को प्रतिबिम्बित करने का सामर्थ्य है। उसकी वजह से एक जीवन्त सत्ता का भान होता है, जिसमें मैं हूं की वृत्ति का अनुभव हो रहा है। यह बुद्धि में जो 'मैं हूं' की तरह से भान हो रहा है, वही जीव कहलाता है। इन जीव

का होना कोई समस्या नहीं है। जिस प्रकार दर्पण के समक्ष होने पर उसमें प्रतिबिम्ब को देखना समस्या नहीं है।

समस्या का कारण अज्ञान होता है। जीव अज्ञानवश अपनी वास्तविकता को नहीं जान रहा है। अतः मोहवशात् उपहित चेतना को ही अपनी वास्तविकता समझ लेता है तथा जिस अन्तःकरणरूप उपाधि में भासित होती है, उससे तादात्म्य करके स्वयं को संकुचित, अल्प, अपूर्ण जीव मान बैठता है। एवं अभिव्यक्त चेतना से तादात्म्य कर एक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अपने अन्दर अनुभव हो रही अपूर्णता को दूर करने की इच्छा से प्रेरित अर्थात् भोक्तृत्व से युक्त होता है। उनमें मोह अपने ही

लघु वाक्यवृत्ति

सन्दर्भ में नहीं किन्तु अपने से पृथक् जगत के सन्दर्भ में भी होता है। वह दृश्य जगत को सत्य मानकर उसके प्रति महत्वबुद्धि से युक्त होता है। और उससे अपनी अपूर्णता को दूर करने हेतु कृतसंकल्प होकर कर्म का आश्रय लेता है। इस प्रकार कर्ता-भोक्ता जीव का जन्म हो जाता है।

'कर्तृत्व-भोक्तृत्व से युक्त जीव ही संसरण को प्राप्त करता है।'

इस कर्तृत्व के अभिमान से प्रेरित होकर पाप-पुण्य रूप कर्म का आश्रय लेकर विविध भोग करता है, उस अनुभूति के परिण ाामस्वरूप संस्कार, वासना का अर्जन करता है और अपने कर्म और वासना के अनुरूप विविध पाप-पुण्यादि रूप लोकर को प्राप्त करता है। इस प्रकार सतत जन्मादि रूप संसार को प्राप्त करता है। यह लोक-परलोक

लघु वाक्यवृत्ति

गमन का चक्र तब तक अनवरत चलता रहता है कि जब तक अपने सत्य को नहीं जान लेता है।

संसरण का कारण अविवेक है, अत: विवेक का आश्रय लेने से ही उससे मुक्ति प्राप्त होती है। यह विवेक बोध और बोधाभास अर्थात् चेतना और उपहित चेतना का होना चाहिए। इसी विवेक को आचार्य इस ग्रंथ में आगे के श्लोक में दे रहे हैं।

गीता अध्याय : 13

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

गीता के बारहवें अध्याय के साथ दो षट्क समाप्त हुए। जिसमें पहले षटक में कर्म से मन को निर्मल करके ध्यान की अन्तरंग साधना बताई। दूसरे षटक में ईश्वर का परिचय देकर उनकी उपासना किस प्रकार से की जा सकती है यह बताया तथा ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने विश्वरूप का दर्शन कराया। कैसे भगवान जगत की तरह से, जगत के कण-कण में विराजमान है-यह दिखाया। अर्जुन उससे अत्यन्त प्रभावित होकर भक्ति के लिए प्रेरित हो गया। उसी सन्दर्भ में बारहवें अध्याय में अर्जुन द्वारा प्रश्न पूछा गया कि कि भक्ति व्यक्त वा अव्यक्त की करनी चाहिए? उसके उत्तररूप बारहवें अध्याय में चर्चा की गई।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

जीवन में भगवान प्रिय और महत्वपूर्ण हो जाएं। भगवान का महत्व और उनके प्रति भक्ति होने पर ही उनके ज्ञानविषयक जिज्ञासा व पात्रता जगती है। अत: भगवान को सगुण साकार वा विभूति आदि किसी भी रूप में ग्रहण करना परं कल्याणकारी होता है। भगवान के प्रति भक्त ऐसा साधक है जो बाह्य परिस्थिति से मुक्त कर अन्तर्मुख बनाता है। यह ज्ञान की पात्रता दर्शाता है, जिससे कि अपनी क्षुद्र अस्मिता से परे सत्य को जान पाएं।

१३ वें अध्याय से गीता का तीसरा खण्ड आरम्भ हो रहा है। इस अध्याय का नाम क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग है तथा इस अध्याय में ३४ श्लोक हैं। यहां अपनी अस्मिता के सत्य विषयक सूक्ष्म विचार किया जा रहा है। जहां गहराई से मैं शब्द का रहस्य खोजा जा रहा है। यह कार्य उपासना,

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

भजन वा रसास्वादन से नहीं होता है, क्योंकि रसास्वादन अहं को ही संतुष्ट करता है।

'क्षेत्र अर्थात् शरीर खेत के समान है, जिसमें पाप-पुण्य रूप कर्म के बीज बोऐ जाते है।'

अब जो रसास्वादन कर रहा है, उस अहं की गहराई में जाना चाहते है। साथ ही जिस भगवान की भक्ति का रसास्वादन कर रहे है, उन भगवान की गहराई मे भी जाना चाहते है। जो कि अन्ततः दोनों एक ही है। जीव और ईश्वर दोनों की गहराई में जाना आवश्यक है। इसी सन्दर्भ में यहां विचार किया जा रहा है।

भगवान बताते हैं कि यह शरीर क्षेत्र अर्थात् खेत है। जिसमें कर्म की फसल बोई जाती है। मनुष्य शरीर की प्राप्ति विशेष सौभाग्य, धन्यता का विषय है। मूलरूप से सब अज्ञानी ही पैदा होते है और शरीर को मैं मानकर ही

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

जीते है। यह मूलभूत मोह है। शरीर के धर्म हमारे धर्म है। व्यवहार हेतु स्वीकारना उचित है, किन्तु उसे ही अपनी वास्तविक अस्मिता मान कर जीते हैं तो यह संसरण का हेतु बनती है। पाप-पुण्य, वासना, ज्ञानादि का आधार यह मनुष्य शरीर ही होता है। उसे जो जान रहा है - वह क्षेत्रज्ञ, चेतन है। जिसे जानते है वह शरीर से लेकर समस्त जगत तक सब जड़ है। इस तथ्य को विद्वत् जन जानते हैं।

जो जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है, वह वस्तुतः हम ही है। हम ही सभी शरीर में सब को प्रकाशित करनेवाली चेतना है। अर्थात् ईश्वर हमारा स्वरूप ही है। इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान होना ही हमारा ज्ञान है। यही वास्तविक, यथार्थ में जाग्रति का ज्ञान है। इस प्रकार

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

भगवान सर्व प्रथम अपने यथार्थ को दर्शाते हैं और उसे ही ज्ञान की संज्ञा देते हैं। क्योंकि यही मुक्त करनेवाला ज्ञान है।

'अमानित्व और अदम्भित्व रूप मूल्य से अन्त:करण में समग्रता आती है।'

आगे भगवान क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, उसके विकार और प्रभाव के सन्दर्भ में बताते हैं। जिसे षियों ने वेदों में दिया हैं, इस प्रकार बताकर उसकी प्रामाणिकता दर्शाई। पंच महाभूत, उसकी बीजात्मक अवस्था – अव्यक्त, उसमें अभिव्यक्त चेतना, कर्तादिपन, अन्त:करण के विविध इच्छादि भाव यह सब क्षेत्र और उसके विकार है। यह क्षेत्र ज्ञान का विषय है। क्षेत्र को क्षेत्र की तरह जानने पर उसे तटस्थता से विषय की तरह देख सकते है। यह अनात्मा रूपा है, उस अनात्मा को अनात्मा की तरह जानने पर उससे असंग व मुक्त हो जाते है। समस्त बन्धन, चिन्ता, अशान्ति, संसरण

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

क्षेत्र रूप अनात्मा को महत्व देने पर ही होता है। अत: पहली अवेरनेस यह हो कि सब को दृश्य और स्वयं को उससे पृथक् दृष्टा जानें। तब ही मन के विकार समाप्त होते हैं और सूक्ष्म रहस्य को जान पाते हैं।

इस सूक्ष्म रहस्य के ज्ञान के लिए आगे भगवान अमानित्व आदि २० मूल्य प्रदान करते हैं, यह ज्ञान के लिए आवश्यक साधन होने पर उसे ज्ञान की संज्ञा प्रदान करते हैं। समस्त मूल्य जीवभाव को शिथिल करके संकुचिता से मुक्त, जगत के प्रति अनासक्त व अन्तर्मुख बनाने हेतु है। इस मूल्य से युक्त होने पर जिस ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य तत्त्व है, उसके बारे में भगवान बताते हैं कि वह ज्ञेय को बताने जा रहे हैं, जिसे जानकर अमृतत्व को प्राप्त कर सकते हैं। यह अनादि, परब्रह्मरूप तत्त्व है। अनादि परब्रह्म को जानने के लिए जिसका आदि

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

हैं, उन सब के प्रति महत्वबुद्धि समाप्त होनी चाहिए। जन्मादिवान के किनारे होने पर अनादि ही अवशिष्ट रहता है। यह तत्त्व – न सत् अर्थात् विषयीकृत नहीं किया जा सकता। तथा असत् अर्थात् शून्यवत् उसका अभाव भी नहीं है। क्योंकि सब के हृदय में आत्मा की तरह विराजमान है। उसके आरे लक्षण प्रदान करते हुए बताते हैं कि समस्त हाथ, पैर आदि रूप उपाधियों के माध्यम से यही अभिव्यक्त हैं, तथा इन सब को आत्मवान करते हुए भी उन सब के विकारों से मुक्त है। समस्त इन्द्रियों को प्रकाशित करनेवाला,

'अहिंसा, क्षमादि मूल्यों के समावेश से अपनेपन का विस्तार और छोटेपन से मुक्ति होती है।'

उन सब से रहित, अन्तः बाहर सर्वत्र व्याप्त है। सूक्ष्म होने से सबके द्वारा ज्ञात नहीं होता है। उसे विषयीकृत करने की चेष्टा से युक्त होने पर अत्यन्त दूर होता है। यह अव्यक्त

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

स्वरूप ब्रह्म सब को धारण करनेवाला, एक अखण्ड सत्तारूप से विराजमान है। सब की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय का अधिष्ठान है। इस प्रकार जो आत्म-अनात्मा का विवेक करके अनात्मा से मुक्त होकर अपने इस तत्त्व को जान जाता हैं, वह हमारे स्वरूप को ही प्राप्त कर लेता हैं।

इन क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ को ही प्रकृति और पुरुष की तरह दर्शाते हुए बताते हैं कि यह दोनों ही अनादि हैं। उसमें विकार और गुण प्रकृति के धर्म हैं है। और उसमें तादात्म्य करके पुरुष, क्षेत्रज्ञ सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। क्षेत्र के गुण और धर्म से तादात्म्य करना ही उसके जन्मादिरूप संसार का हेतु है। वस्तुतः पुरुष उन सब के पीछे साक्षी, सब को धारण करनेवाला, महेश्वर इसी देह में 'मैं' की तरह विराजमान हैं। उसे ही

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

परमात्मा कहा गया। जो इस तथ्य को अर्थात् पुरुष और प्रकृति का विवेक करके पुरुष को उनके धर्मों से पृथक् जान लेता हैं, वह जन्मादिरूप संसार से मुक्त हो जाता है।

'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक ही वास्तविक व मुक्तिदायक ज्ञान है।'

पहले इसका ज्ञान प्राप्त करके, उसका अच्छी तरह से विवेक करके ध्यान करें। मैं की वास्तविकता को जानकर उसमें जगना ही ध्यान का प्रयोजन है। श्रवणादि अनेकानेक साधना इसी लक्ष्य हेतु है। यहां जो कुछ भी उत्पन्न है, वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से है। क्षेत्रज्ञ अर्थात् चेतना सर्व क्षेत्र को सत्ता और स्फूर्ति प्रदान करता है। वही समस्त भूतों में समानरूप से, विनाशी में अविनाशी सत्ता की तरह से विराजित है। जो इस सर्वत्र स्थित ईश्वर को जान लेता हैं, वह प्रकृति और उसके धर्मों को स्पष्ट रूप से

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

पृथक् जानते हुए उसके बन्धन में नहीं आता हैं। जब समस्त विविधतापूर्ण जगत में एक ही परमात्मा को देख लेता हैं, तब अपनी ब्रह्मस्वरूपता में स्थित हो जाता है। वह इसी जगत में रहकर विविध कार्यकलाप आदि करते हुए भी उन सब से मुक्त, अलिप्त रहता है। जिस प्रकार सूक्ष्म आकाश सर्वत्र होने पर भी वायु की सुगन्ध, दुर्गन्ध से लिप्त नहीं होता है; वैसे ही आत्मा समस्त देह में स्थित होने पर भी उन सबसे अलिप्त रहती है। सूर्य की सन्निधि में जिस प्रकार सब प्रकाशित हो उठता है, वैसे ही समस्त क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ तथा अन्य सब आत्मा की सत्ता और स्फुर्तिवान होते है। इस प्रकार क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का विवेक करके जो स्थित होता है वह तत्त्व को जानकर सब से मुक्त होता है।

होली की शुभकामनाएं

(श्री रामचरित मानस पर आधारित)

श्री लक्ष्मण चरित्र

— १८ —

बन्दउं लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका। दण्ड समान भयउ जस जाका॥

श्री लक्ष्मण चरित्र

श्रीराम के वनगमन की बात सुनकर उनसे वियोग की कल्पना मात्र से लक्ष्मणजी की स्थिति मछली के जल से अलग होने पर होनेवाली स्थिति के समान होने लगी। अस्त-व्यस्त, चिन्ता और दैन्य से भरी हुई उनकी यह मुखाकृति सर्वथा अपरिचित प्रतीत हो रही थी। आज तक उनके मुख-मण्डल पर आनन्द और सेवाजन्य, सुख और गौरव का चिह्न परिलक्षित होता था, पर एक ही क्षण में उनमें परिवर्तन के जो चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे थे, उससे उनके अग्रज का द्रवित हो जाना स्वाभाविक ही था। कांपता

श्री लक्ष्मण चरित्र

हुआ शरीर, आंसुओं से भरी हुई आंखें, पर विचित्रता यह थी कि देखकर लगता था कि जैसे वे शरीर से दूर किसी और ही लोक में बैठे हुए हैं। प्रभु ने समझ लिया कि वे साथ चलने का आदेश लेने आए हुए हैं, लेकिन यह तो औपचारिकता मात्र है। वे तो देह, गेह से नाता तोड़कर ही उनके सामने खड़े हैं। प्रभु असमंजस में पड़ जाते हैं। कर्तव्य और प्रीति में वे किसका पक्ष लें। जब वे अयोध्या की वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डालते हैं तब वे लक्ष्मणविहीन नगर की कल्पना से ही कांप उठते हैं। पुत्र की पीड़ा से मर्माहत दशरथ, शोकसन्तप्त माताएं और दूर केकय देश में भरत

श्री लक्ष्मण चरित्र

और शत्रुघ्न–ऐसी विकट स्थिति में लक्ष्मण को छोड़कर अयोध्या नगर को कौन संरक्षण दे सकता है। दूसरी ओर लक्ष्मण से अलग होकर वे स्वयं भी अपूर्णता का ही अनुभव करेंगे, यह उन्हें ज्ञात था। लक्ष्मण की उनसे अलग होकर क्या दशा होगी, इसकी कल्पना ही उन्हें आतंकित कर देती है। लक्ष्मण के प्राण त्याग की आंशका भी उनसे छिपी हुई नहीं थी। फिर उन्होंने लोकमण्डल और कर्तव्य का ही पक्ष लिया। वे स्नेह–भरे स्वर में लक्ष्मण के समक्ष सारी परिस्थिति रख देते हैं। उनसे कर्तव्यपथ पर आरूढ़ होने का अनुरोध करते हैं। उनका यह भी संकेत था कि इस समय मेरे साथ चलने का आग्रह कर्मव्यपथ्ज्ञ से पलायन ही माना जाएगा। लक्ष्मण जैसे महावीर को कोई कायर कहे, ऐसा अवसर उन्हें नहीं देना चाहिए।

श्री लक्ष्मण चरित्र

किन्तु प्रभु की यह उद्बोधक वाणी लक्ष्मण को प्रभावित नहीं कर पाती। सत्य तो यह है कि लक्ष्मण को उपदेश देकर राघव ने अपने कर्तव्य का पालन ही किया था। इसके द्व ारा वे लक्ष्मण के निर्णय को प्रभावित कर सकेंगे, इसकी तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। लक्ष्मण इन तर्कों से तभी प्रभावित हो सकते थे, जब उनका जीवन धर्म या तर्क के द्वारा संचालित होता। लक्ष्मणजी की प्रीति के पीछे इस प्रकार की कोई वृत्ति नहीं थी। उनके सम्बन्ध और प्रीति अनादिकाल से एकरस है। जैसे जल और मछली के सम्बन्ध है। जल मछली की नियति है, जीवन है, उसकी प्रीति जन्मजात है, सहज है। इसलिए वहां परितृप्ति और अरुचि का प्रश्न ही नहीं है। जल के ग्रहण और त्याग का तर्क अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर सकता है; पर

श्री लक्ष्मण चरित्र

मछली की प्रीति शास्त्र या धर्म से प्ररित है ही नहीं, इसलिए वह किसी भी उपदेश द्वारा परिवर्तित नहीं की जा सकती। लक्ष्मण की प्रीति का स्वरूप भी इसी प्रकार का है।

— २१ —

उत्तरकाशी
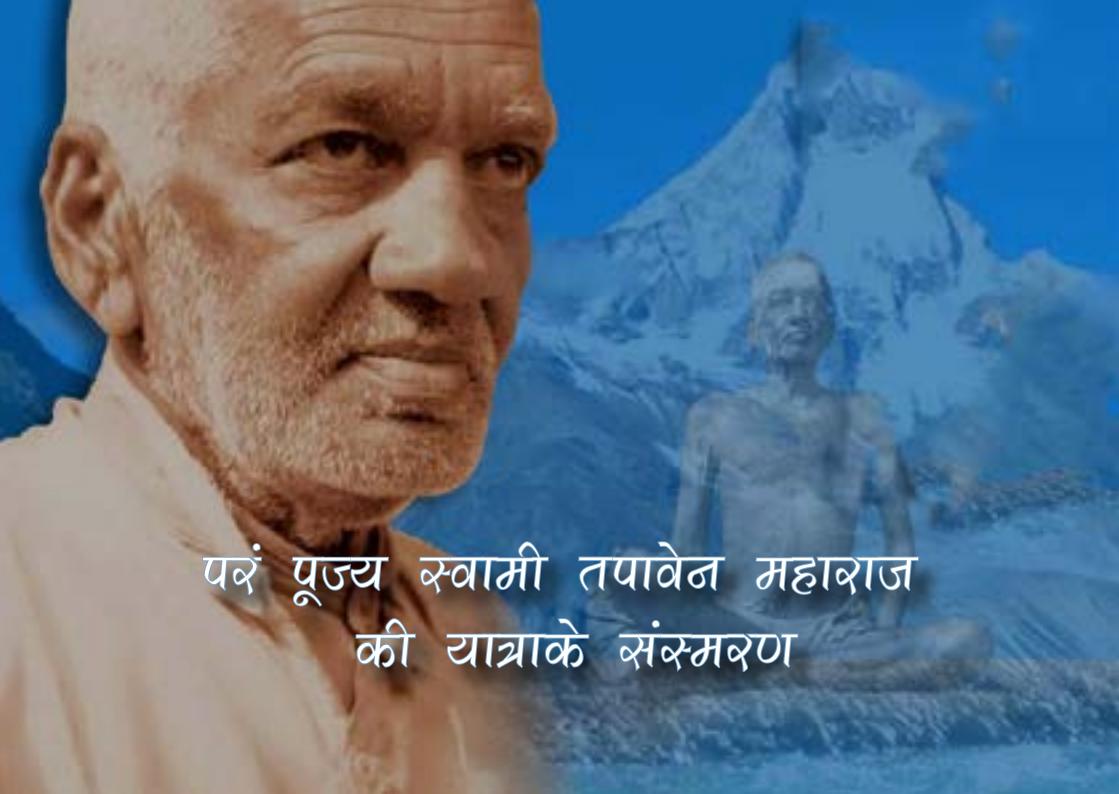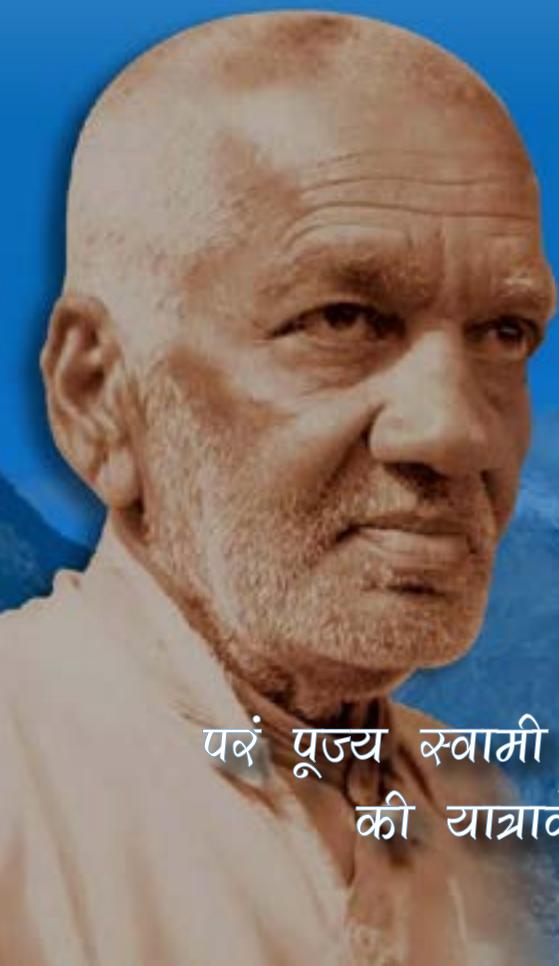
परं पूज्य स्वामी तपावेन महाराज
की यात्राके संस्मरण

जीवन्मुक्त

अहो! कामिनी, कनक आदि नाना विषयों के पीछे दौड़ते हुए गर्दभन्याय से, कितने ही दु:ख क्यो न भोगें तो भी विषयासक्ति को छोडने के लिए मनुष्य तैयार नहीं होते। वे नही जानते कि विषय सुखरूपी शरीर का सिर दु:ख है और बिना सिर के कोई शरीर असंभव है। वे यह तत्त्व भूल जाते हैं कि जितना ही अधिक विषयों का उपार्जन करके उनका आनन्द भोगा जाता है, उतना ही उनमें से निकलने वाले दु:ख भी अधिक-अधिक भोगने पडेंगे; "अंगं गलितं, पलित जातं, दन्तविहीनं जातं तुण्डम्"। फिर

जीवन्मुक्त

भी, कायिक आसक्ति जरा भी कम नही होती। दश-नियतु-शत-वय की जीर्ण दशा में भी नव-वय के जैसे प्राणियों के लिए देह अत्यधिक प्रिय ही रहती है। इस प्रकार 'सुख-दुख' की चिंता में दुःख को तथा 'जीवन-जीवन की चिंता में भयानक मृत्यु को प्राप्त कर मनुष्य जाति सदा संसारचक्र में भ्रमित रहती है। इस द्वन्द्व-रूपी संसार में दुःख से सुख को, मृत्यु से जीवन को, अपमान से मान को तथा ताप से शीतलता को अलग करके उपभोग करनेका सामर्थ्य किसमें है? हाय, महामाया के शक्ति वैभव पर जितनी ही चिंता की जाती है, उतनी ही वह आश्चर्यमयी दिखायी दे रही है।

पिंजडे में बंद शेर की तरह देहेन्द्रियों के पंजर में बद्ध होकर मनुष्य कुछ सीमाओं का उल्लंघन करने में असमर्थ रहते है। वे इस पर विचार नही करते कि कितने ही उंचे

जीवनमुक्त

स्वातंत्र्य साम्राज्य से वे कितनी ही अधम दुर्दशा की ओर पतित हो गये हैं। मनुष्यों की इस भ्रष्ट तथा शोचनीय दशा पर सभी धार्मिक ग्रंथों ने एक कंठ से दु:ख प्रकट किया है। सब धार्मिक ग्रंथ और धर्माचार्यो ने इस बात पर सहमत होकर उपदेश दिया है कि अन्य विषयों में कितनी ही विप्रतिपत्ति क्यों न हो, तो भी मनुष्य अपने सच्चे स्थान पर स्थित नही हैं, बल्कि अपनी सहज दशा से कितनी ही नीचता की और वे भ्रष्ट हो गये हैं, और इस भ्रष्टता को पहचानकर वहां से स्वयं उद्धार पाकर अपनी सहज दशा को पहुंच जाना ही परम पुरुषार्थ है। देखिएं महामाया कि शक्ति।

पौराणिक गाथा

पुराणों में शल्यचिकित्सा

पुराणों में शल्यचिकित्सा

पुराणों में देवताओं के वैद्य दो अश्विनीकुमार जाने जाते हैं। दोनों अश्विनीकुमार ने ही च्यवन ऋषि का कायाकल्प किया था तथा उन्हें आयुर्वेद का ज्ञान दिया था। अश्विनीकुमार बहुत अच्छे आयुर्वेद के ज्ञाता थे। किन्तु उन्हें शरीर से पृथक् किए गए अंग को शरीर के साथ जोड़ने की शल्यविद्या का ज्ञान नहीं था। वे इस विद्या के ज्ञाता की खोज में पूरी सृष्टि में विविध स्थानों पर भ्रमण कर रहे थे।

इन्द्र देवता को जब यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने यह घोषणा कर दी कि, ' जो भी इस विद्या को इन दोनों कुमारों को प्रदान करेगा, उसका शरीर से मस्तका विच्छेद कर दिया जाएगा।' यह विद्या ऋषि दधीचि के

पुराणों में शल्यचिकित्सा

पास थी। वे लोककल्याण के लिए अश्विनीकुमारों को यह विद्या देने के लिए तैयार हुएं। किन्तु इन्द्रदेवता की इस घोषणा से उसे धर्मसंकट हो गया। फिर भी उन्होंने अश्विनीकुमारों को यह विद्या प्रदान की। तब अश्विनीकुमारों ने स्वयं ही ऋषि का सिर काटकर उसके स्थान पर घोड़े का सिर जोड़ दिया और ऋषि के मस्तक को किसी सुरक्षित स्थान पर छिपा दिया।

इन्द्र जब ऋषि दधीचि का सिर काटने आएं, तब उन्होंने देखा कि इसके स्थान पर अश्व का सिर लगा हुआ है। तब इन्द्र ने अश्व के ही सिर को काट दिया। अश्विनीकुमारें ने उसके स्थान पर पुन: ऋषि का अपना सिर लगा दिया। इस तरह दोनों कुमारों की शिक्षा पूर्ण हुई। अश्विनी कुमार चिकित्सा के अलावा खगोल और भूगोल का भी ज्ञान रखते हैं। तथा वे अवकाश में विचरण करते रहते हैं।

पुराणों में शल्यचिकित्सा

पुराणों में मस्तक जोड़ने की घटना का तीन पात्रों के सम्बन्ध में प्राप्त होती है। उसमें १. महर्षि दधीचि २. प्रजापति दक्ष तथा ३. पार्वतीपुत्र गणेश।

इन प्रसंगों से यह संकेत प्राप्त होता है कि शल्यचिकित्सा केवल आधुनिक विज्ञान की देन नहीं है। यह पुराणों में भी उसका प्रमाण प्राप्त होता है। आधुनिक शल्य चिकित्सा के अन्तर्गत केवल हाथ-पैर वा अन्य अंग को ही जोड़ा जा सकता है, मस्तक को नहीं। विज्ञान के अनुसार जब तक मस्तक जिन्दा होता है, तब तक मनुष्य जिन्दा रहता है। यदि मस्तक को सुरक्षित रखा जाए तो वह तीन दिन तक जीवित रह सकता है।

Mission & Ashram News

Bringing Love & Light
in the lives of all with the
Knowledge of Self

आश्रम समाचार

वेदान्त आश्रम

में सायं आरती

आश्रम समाचार

फोटोग्राफी प्रदर्शनी की मुलाकात

डॉ चेतन एरन की वाइल्ड लाइफ फोटोग्राफी

आश्रम समाचार

कैलादेव पक्षी अभयारण्य की मुलाकात

आश्रम समाचार

कैलादेव पक्षी अभयारण्य की मुलाकात

आश्रम समाचार

खगीय विभूति दर्शन

आश्रम समाचार

पुरुष एवेदं सर्वम्।
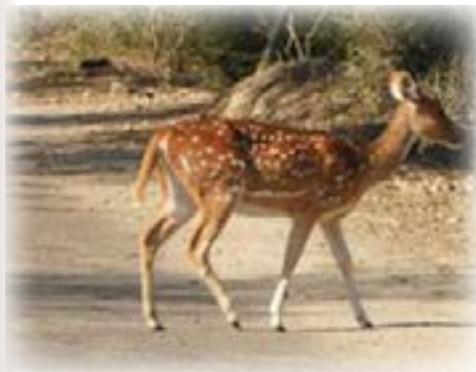
आश्रम / मिशन कार्यक्रम

प्रेरक कहानियां (ओनलाईन)

Facebook पर VDS group में नियमित प्रसारण
आश्रम महात्माओं के द्वारा

आत्मबोध (ओनलाईन)

Facebook पर VDS group में नियमित प्रसारण
पूज्य गुरुजी के द्वारा

Internet

Talks on (by P. Guruji) :

Video Pravachans on YouTube Channel

~ Atmabodha Pravachan

- Sundar Kand Pravachan

~ Prerak Kahaniya

- Ekshloki Pravachan

~ Sampoorna Gita Pravachan

- Kathopanishad Pravachan

- Shiva Mahimna Pravachan

- Hanuman Chalisa

Internet News

Audio Pravachans

~ Prerak Kahaniya

~ Sampoorna Gita Pravachan

~ Atmabodha Lessons

Vedanta Ashram YouTube Channel

Vedanta & Dharma Shastra Group

Monthly eZines

Vedanta Sandesh - Mar '22

Vedanta Piyush - Feb'22